

अनूठे अहिंसक का हिंसक अंत



डॉ. राममनोहर लोहिया

पुस्तिका सीरीज़-85

प्रकाशक :

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए,

लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com

वेबसाइट : www.isd.net.in

प्रकाशन वर्ष : 2019

केवल सीमित वितरण के लिए

अनूठे अहिंसक का हिंसक अंत

मैं सोच रहा था कि ईश्वर में अटूट श्रद्धा रखने वाला, जिसने ज़िंदगीभर अहिंसा का प्रचार किया, आज उसका हिंसा द्वारा हनन हुआ। यह कितनी विपरीत घटना थी। गांधीजी के मृत शरीर को देखकर, मैं बुदबुदा पड़ा था—
“क्यों आपने मेरे साथ और देशवासियों के साथ ऐसे दगाबाजी की? क्यों आप इतनी जल्दी चले गए?”

—डॉ. राममनोहर लोहिया

अपनी यादों पर आधारित स्वतंत्रता सेनानी, सोशलिस्ट नेता और समाजवादी चिंतक राममनोहर लोहिया का यह लेख महात्मा गांधी के जीवन के कुछ रोचक पहलुओं को दर्शाता है और इससे अंदाजा होता है कि उनका व्यक्तित्व कितना सादा, कितना मासूम, कितना जिंदादिल और कितना अडिग था। इससे यह भी पता चलता है कि वो वैचारिक मतभेदों और दृष्टिकोण की भिन्नता को कितना महत्व देते थे और आपसी सम्बन्धों को उनसे प्रभावित होने नहीं देते थे। यह लेख इस लिहाज से भी अहम है कि इसमें हमारे स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम चरण के—जब अंग्रेजी राज का खात्मा हो रहा था और देश का विभाजन लगभग निश्चित हो चुका था—कुछ ऐसे घटनाक्रम का उल्लेख मिलता है, जिसका लेखक चश्मदीद गवाह रह चुका है। महात्मा गांधी की 150वीं जयंती के वर्ष में अपनी पुस्तिका के लिए इस लेख का चयन मुनासिब भी है और प्रासंगिक भी।

अपनी पीढ़ी के असंख्य लोगों की तरह मुझे भी छोटी उम्र में, जब मैं स्कूल का विद्यार्थी था, गांधीजी से मिलने का अवसर मिला था। 1919 या 1920 में गांधीजी की पहली असहयोग की पुकार पर हमारी उम्र के, नौ या दस वर्ष के, विद्यार्थियों ने स्कूल छोड़ा था। मेरे पिता मुझे गांधीजी के पास ले गए थे, और उस घटना के सम्बन्ध में मुझे बस इतना याद है कि मैंने उनके पाँव छुए थे और उन्होंने मेरी पीठ छुई थी। मुझे उस घटना पर गर्व है और एक समय जब गांधीजी ने मुझसे पूछा कि मैंने उन्हें पहले-पहल कब देखा था, मैंने वह घटना सुनाई थी। वे बोले थे, “हाँ, तुम्हें जरूर याद होगा, लेकिन मुझे याद नहीं।” मेरा विश्वास है कि हमारी पीढ़ी के अनगिनत लोगों को ऐसे ही अनुभव हुए होंगे और उस कृपालु और शक्तिशाली हाथ के स्पर्श से अत्यधिक प्रभावित हुए होंगे। फिर बाद में, बाद के वर्षों में, हममें से कुछ उस स्पर्श को अधिक विस्तार से देखने और अनुमान करने का सौभाग्य भी पा सके हैं। मैं यहाँ यह बता दूँ कि मैंने कभी अपने परिवार के बाहर लोगों में किसी का पाँव नहीं छुआ और सो भी बड़ी छोटी आयु में।

एक बार मैं ऐसे ही एक अनुभव से वंचित रह गया था, जब मैं योरोप में विद्यार्थी था और पेरिस में छुट्टियाँ मना रहा था। मुझे पता लगा कि सवेरे साढ़े पाँच बजे महात्मा गांधी पेरिस पहुँच रहे हैं। योरोप की बात ही क्या, भारत में भी सवेरे साढ़े पाँच का समय बेतुका ही होता है और खासकर उस उम्र में मेरे लिए। मैंने निश्चय किया कि मैं स्टेशन जाऊँगा। फिर मन के निश्चय के अनुसार मैं उठा भी। जब मैंने घड़ी देखी, उस समय ठीक साढ़े पाँच बजे थे, जिस समय मुझे रेलवे स्टेशन पर होना चाहिए था, तब मैं अपने होटल में ही टहल रहा था।

गांधीजी को प्रत्यक्ष और निकट से देखने का पहला मौका मुझे तब मिला जब योरोप से पढ़ाई समाप्त कर मैं वापस आया और मुझे मालवीयजी के साथ, उनके वार्तालाप को सुनने का अवसर मिला। प्रभावती देवी की कृपा से, जिन्हें मैं उनके पति के परिचय के पूर्व ही जानता था, मैं छिपकर भीतर पहुँचा। मैंने कहा, “मैं तुम्हारे पीछे रहूँगा और तुम मेरे लिए ढाल बनी रहोगी। तुम आगे बैठना और मैं पीछे, फिर इन दोनों की बात हम लोग सुनेंगे।” वह बोली, “तुम सामने क्यों नहीं आते?” मैंने कहा, “नहीं, कम-से-कम आज नहीं।” मैंने वह वार्तालाप सुना। कांग्रेस की स्थिति बिगड़ गई थी। ज्यादातर लोग यही सोचते थे कि ब्रिटिश बाजी मार ले गए, और राष्ट्रीय उदासी के ऐसे मौके पर समझौते के ही विचार प्रचलित थे। काफी लम्बी भूमिका के बाद मालवीयजी ने सुझाया कि कांग्रेस की ओर से एक प्रतिनिधिमंडल को भारत की बात सामने रखने को इंग्लैंड जाना चाहिए। गांधीजी बड़े धैर्य से यह सुन रहे थे। फिर मालवीयजी की बात पूरी होने पर गांधीजी ने बड़े धीमे, हृदयग्राही पर दृढ़ स्वर में कहा, “आप कैसी बात कहते हैं? क्या हम उस जगह पर नहीं आ गए जब भारत के लिए कांग्रेस पार्टी के प्रतिनिधि मंडल के इंग्लैंड जाने की बात सोचना भी असम्भव है?” और यही वार्तालाप का अंत था।

कुछ ही दिनों बाद, गांधीजी के बगल वाले कमरे में मैं सो रहा था, और तब मैं देर से उठने का आदी था। श्री जमनालाल बजाज ने मुझे बिस्तर से खींचकर जगाया, क्योंकि गांधीजी के पास बस यही समय था और एक घंटे बाद ही मुझे भी कलकत्ता के लिए गाड़ी पकड़नी थी। मुझे उनके सामने उसी फूहड़ शक्ल में जाकर खड़ा कर दिया। शायद पहला या दूसरा सवाल जो उन्होंने मुझसे पूछा वह था, “क्या खाते-पीते घर के हो?” यदि कोई दूसरा पहली ही भेंट में यह सवाल करता तो मुझे कितना अजीब लगता। पहली ही भेंट में इतना भद्दा सवाल? परन्तु यह गांधीजी का सवाल था, मुझे याद है, मुझे तनिक भी बुरा न लगा था। जमनालालजी ने उनसे कहा कि इस सम्बन्ध में उन्हें चिंता करने की जरूरत नहीं है। लगा कि जैसे उनके दिमाग का एक बड़ा बोझ उतर गया। “फिर तो ठीक है। हम लोग फिर मिलेंगे।” उन्होंने कहा, और सब बात जैसे खत्म हो गई, क्योंकि उन जैसे आदमी के लिए हर बात के विस्तार में आना आवश्यक हो गया। सम्भवतः उन्हें पहले बता दिया गया था कि मैं राजनीति करना चाहता हूँ, अतः

उसके लिए यह जानना जरूरी था कि मेरी स्थिति क्या है। इसीलिए ज्यों ही उनसे कहा गया कि इस विषय में उन्हें चिंता करने की जरूरत नहीं है, तो सचमुच उनके दिमाग का बड़ा बोझ हलका हो गया।

बाद में मुझे अपनी पार्टी (तब कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी) के एक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन करना पड़ा। मैंने गांधीजी से वायदा लिया था कि हमारे पत्र के लिए वे एक लेख लिखेंगे। ऐसे मामलों में वे बड़े मेहरबान थे। लगता है मेरी युवावस्था के कारण वे मुझसे प्रभावित थे। सभी बड़े आदमी साधारण रूप में नवयुवकों के प्रति आकर्षित रहते हैं। यहाँ तक कि कुछ बड़े आदमी यदि व्यवहार में कुछ रूखापन दिखावें या कड़े शब्दों का प्रयोग करें, तो मेरा विचार है कि यह मान लेना चाहिए कि उनके मन में आकर्षण है। लेकिन यदि पच्चीस वर्ष की आयु या उससे अधिक आयु के युवक जिद्द कर वे अवहेलना दिखाएँ तो बड़े लोग उन्हें पसंद नहीं करते। 1932-33 के आंदोलन की असफलता के गांधीजी के प्रयत्न—अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग-संघ पर मैंने एक लेख लिखा। मुझे आश्चर्य है कि ऐसे आंदोलनों को असफल क्यों कहा जाता है, हाँ, अल्पकालिक असफलता अवश्य होती है। ऐसे समय में गांधीजी बराबर किसी रचनात्मक कार्य की बात करते थे, जिसकी ओर लोगों का वे ध्यान खींच सकें, क्योंकि कोई भी पार्टी लगातार संघर्ष की खुराक पर ही नहीं जी सकती। कोई भी सतत संघर्ष की राह पर लोगों को नहीं चला सकता। बीच में अराजकत्व काल आता ही है। मैं जितने भी राजनीतिक दर्शन व व्यवस्था जानता हूँ, उनमें से किसी में भी इस अराजकत्व काल के लिए नकली संघर्ष के अलावा कोई रास्ता नहीं है, पर गांधीजी के पास रचनात्मक कार्यक्रम का रास्ता था।

इसके भी पहले अखिल भारतीय चरखा संघ था। 1934-35 में अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ और बाद में तालीमी संघ बना। यह रचनात्मक कार्यों का एक सिलसिला था, लेकिन तब भी मैं अनेक अन्य लोगों की तरह इसे पुरानी लीक समझता था। मेरे लेख का मूल विचार था कि भारत की आजादी ऐसे टुकड़ों में व छोटे कार्यक्रमों से नहीं जीती जा सकती जो अस्थायी रूप में लोगों में थोड़ी शक्ति तो सँजो सकते हैं, पर ब्रिटिश साम्राज्य से लड़ने की पूरी शक्ति नहीं जुटा सकते। मैंने स्पष्ट लिखा कि भारत से विदेशी सत्ता को उखाड़ना

हिमालयी कार्य है, हाथ से धान कूटने या उसे पछोरने जैसे कामों से लक्ष्य-सिद्धि न होगी। मैंने बड़े कड़े शब्दों का भी प्रयोग किया था। मैंने छपे लेख की प्रतिलिपि गांधीजी के पास भेजी और चाहा कि वे इस सम्बन्ध में अपनी राय व्यक्त करें। मैं समझता हूँ कि यह अकेला अवसर था, जब वे सचमुच मुझसे नाराज हुए थे, क्योंकि जवाब में उनका जो पोस्ट-कार्ड आया उसमें लिखा था, “तुम्हें मुझसे जवाब की आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि मुझे लगता है कि तुममें विरोधी के दृष्टिकोण के प्रति तनिक भी धैर्य नहीं है।” इससे मैं बहुत चिढ़ गया। यह तो नहीं कहूँगा कि मुझे क्रोध आया, पर चिढ़ा। मैंने जवाब में लिखा कि शायद मैं शब्दों के उचित प्रयोग में लापरवाह हो गया होऊँ, पर आपको तो मेरा आशय समझने की कोशिश करनी थी, और आशय समझकर आप जवाब दे सकते थे। इस पत्र का तत्काल उत्तर आया, जो उतना ही प्यार-भरा व मधुर था, जितना पहला रोषपूर्ण।

मैं तो बंजारा हूँ और चिट्ठियाँ सहेजकर नहीं रखता, लेकिन इस पत्र को मुझे जीवन-भर सहेजकर रखना चाहिए था। अपने विरोधी को न सुनना सचमुच एक भयानक बीमारी है। मैं अपने को कभी भी महात्मा गांधी के विरोधी के स्थान पर रखना न चाहूँगा। यदि विरोधी का दृष्टिकोण पसंद न भी आए तो भी उसे सतर्कता से सुनना और समझना तो चाहिए ही, और उस गुण को हम लोग आधुनिक युग में तेजी से खो रहे हैं। हम अपने विचारों में ही इतने डूब जाते हैं कि जब दूसरा हमारे विचारों में कमियाँ या बुराइयाँ बताना चाहता है तो हम उसे नहीं सुनते। हम सिर्फ अपनी ही सुनते हैं और अक्सर लोगों से बातें करते समय, मैं ताज्जुब से सोचने लगता हूँ कि क्या मैं सचमुच उनसे बातें कर रहा हूँ, क्योंकि वे भी अपने विचार प्रवाह में इतना बह जाते हैं कि उन्हें ध्यान नहीं रहता कि मैं भी कुछ कह सकता हूँ। विरोधी के विचार सुनने से भिन्न है, और तब मुझे लगा कि क्या मैं अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ के सम्बन्ध में, अपने विचार को मूलतः बदलूँ। शायद मैं आज भी गांधीजी की इस कहावत को न मानूँगा कि चरखा वह सूरज है, जिसके चारों ओर समस्त रचनात्मक कार्यक्रम घूमते हैं। बल्कि मैं सूरज की जगह फावड़े को दूँगा, क्योंकि लाखों-करोड़ों लोग फावड़े से नाले, तालाब, कुएँ, सड़कें, नहरें आदि खोदने का काम लेते हैं। बाद में जब मैं फिर गांधीजी के पास गया, अंग्रेजों द्वारा बनाए गए नए

ढंग के दमन-कानूनों के विरोध में आंदोलन के सिलसिले में, शायद गांधीजी ने ही इस घटना की फिर याद दिलाई, तब मैंने हँसकर कहा कि क्या अब आप मेरे पत्र में लेख लिखने के प्रस्ताव पर विचार करेंगे? तब उन्होंने कहा— “देखो, मैंने ‘हरिजन’ में तुम्हारे पत्र से एक लेख उद्धृत किया है।” यह एक लेख था—भारत की कृषि-समस्या पर। फिर उन्होंने अट्टहास के साथ, जिस अट्टहास के वे अकेले आदी थे, कहा—“रावण से भी तो कुछ सीखा जा सकता है।” निश्चय ही उनका आशय था—वे राम थे और मैं रावण। मैं निराश नहीं हुआ; रावण भी तो बहुत विद्वान था।

मैं अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के एक विशेष अधिवेशन की चर्चा करूंगा, जो दूसरे महायुद्ध के शुरू के कुछ ही पहले हुआ था, जिसमें दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों द्वारा असहयोग आंदोलन के सम्बन्ध में प्रश्न उठा था। दक्षिणी अफ्रीका में बसे भारतीय वहाँ रद्दी कानूनों के प्रति सदा संघर्ष करते रहे हैं। गांधीजी ने खुद ही प्रस्तावना का मसविदा तैयार किया था, जो अ.भा.काँ.क. के सामने रखा गया। विश्व शांति के सम्बन्ध में, मैं अपने विचार पहले ही व्यक्त कर चुका था। कांग्रेस-अध्यक्ष ने पहले ही पेरिस के विश्व कांग्रेस को एक तार भेजने की गलती कर दी थी। मैंने अध्यक्ष से इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछकर सफाई चाही। इसके अलावा जब प्रस्ताव आया तो मैंने पाया कि दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों को दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश भारतीय कहा गया था और इस प्रस्ताव में दक्षिणी अफ्रीका के भारतीय समुदाय का सिविल नाफरमानी के लिए आह्वान किया गया था। मैंने दोनों के प्रति संशोधन पेश किए। पहला, कि भारतीयों को केवल भारतीय ही कहा जाए, चाहे वे दक्षिणी अफ्रीका में रहें। या भारत में और उन्हें ब्रिटिश भारतीय न कहा जाए, और दूसरा, कि दक्षिण अफ्रीका में सिविल नाफरमानी का जो प्रयत्न किया जाए, वह एक प्रकार से सभी दबी कौमों का संयुक्त मोर्चा हो, चाहे वे भारतीय हों या नीग्रो या अरब और चाहें गोरी चमड़ी वाले गरीब लोग हों। सौभाग्य से कांग्रेस दल के बड़े नेता को मेरी बात जंची और उन्होंने मेरे संशोधनों का समर्थन किया और संशोधन स्वीकृत हुए। यह एक अच्छी बड़ी बात थी। और मुझे लगा कि मैं अपना काम कर चुका और घूमने निकल गया—आप स्मरण रखें कि तब मैं काफी छोटा था, यह सन् 1939 का साल था—तभी पता लगा कि मेरी खोज

हो रही है, और महादेव देसाई गांधीजी का कोई संदेश लेकर आए हैं। मेरा मन उत्तेजित हो उठा। मैंने देखा कि सभी मुझे अपने पास बुला रहे थे, लेकिन मैं उसी व्यक्ति के पास जा बैठा जिसने मेरा समर्थन किया था, क्योंकि उस समय मैं उसे बहुत पसन्द करने लगा था।

पता लगा कि गांधीजी संशोधनों से बहुत नाराज थे और कहलाया था कि या तो अ.भा.काँ.क. पूरा-का-पूरा प्रस्ताव ज्यों-का-त्यों स्वीकार करे या वापस कर दे। मेरा समर्थन करने वाले कांग्रेस के उन महान नेता ने मुझ पर दबाव डालना शुरू किया कि मैं प्रस्ताव को मूल रूप में ही मान लूँ। मैंने कहा—“अभी चार घंटे पहले ही तो हमने प्रस्ताव स्वीकार किया है। अब यह बदलाव क्यों?”

कांग्रेस नेताओं ने समझा कि मैं जिद्द कर रहा हूँ। तभी मैंने महादेव भाई की ओर देखा और कहा—“आपका तर्क मुझे मंजूर नहीं है, फिर भी एक सवाल रहता है कि न इस कार्यकारिणी में और न मेरे जैसे अनेक लोग ही दक्षिण अफ्रीका में सिविल नाफरमानी चलाने में समर्थ हैं। यह आंदोलन तो गांधीजी को ही चलाना है, अतः यदि वे हमारी बात स्वीकार करने में असमर्थ हैं तो सहज ही मुझे भी कम दरजे की सिविल नाफरमानी और बिल्कुल सिविल नाफरमानी न होना, इसमें से ही चुनाव करना होगा।” महादेव भाई ने कहा—“हाँ, यही बात है। यही सही दृष्टिकोण है।” मैंने कहा—“तब तो मेरे लिए इसके सिवाय कोई रास्ता नहीं बचता कि वापसी मान लूँ।” संशोधनों को वापस लिया गया और प्रस्ताव मूलरूप में ही स्वीकृत हुआ। केवल बिना किसी बहस के ब्रिटिश भारतीय को भारतीय कर दिया गया।

जब मैं सभा से बाहर जा रहा था तो श्री सुभाषचंद्र बोस मेरे पास आए और बोले—“क्या समझे कि शक्तिशाली कौन है, महात्मा गांधी या कांग्रेस दल” मैंने कहा—“मैं हर समय यह समझता रहता हूँ और समझकर ही सब करता हूँ।” गांधीजी की शक्ति, कांग्रेस दल से निश्चय ही बड़ी थी। दल द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव से गांधी की इच्छा अधिक बड़ी थी।

कुछ महीनों बाद युद्ध शुरू हो गया। ब्रिटिश वायसराय से मिलने के तत्काल

बाद गांधीजी ने एक बयान दिया जो ऑल इंडिया रेडियो द्वारा प्रसारित किया गया। उसमें वेस्ट मिनिस्टर एबे की संभावित बरबादी पर दुःख प्रकट किया गया था, क्योंकि एबे ब्रिटिश इतिहास व ब्रिटिश स्थापत्य कला का एक महान स्मारक था। ऐसी बरबादी—जो युद्ध के कारण ब्रिटिशों को भोगनी पड़ती—की कल्पना से गांधीजी के आँसू निकल आए थे, इसी प्रकार की बातें प्रसारित हुईं। रेडियो ने गांधीजी का वक्तव्य पूरा न देकर, काट-छाँटकर दिया था। ऐसे ही भाग रेडियो से प्रसारित किए गए जिसे सुनकर मुझ जैसे व्यक्ति को क्रोध होता, और शायद वह अकेला अवसर था, जब मैं गांधी से सचमुच नाराज हुआ। यद्यपि मैं उन्हें अच्छी तरह जानता था और यह असम्भव था कि वे ब्रिटिशों की युद्ध में सहायता करने की बात कहते, पर मैंने सोचा कि केवल मानवीय दृष्टिकोण व सहानुभूति से गांधीजी ने ब्रिटिश वायसराय से ऐसा कहा। ब्रिटिशों के प्रति भावुकता तथा एबे की सम्भावित बरबादी की कल्पना से, गांधीजी के आँसू आए होंगे। दूसरे दिन अखबार में उनका पूरा वक्तव्य पढ़कर मेरा गुस्सा शान्त हो गया। प्रभाव बुरा न था। लेकिन यह सच था कि गांधीजी ने कुछ ऐसी भावुकता दिखाई थी, जिससे युद्ध में अंग्रेजों के प्रति पक्षपात अवश्य समझा जा सकता था। मैंने उन्हें एक पत्र लिखा कि यद्यपि रेडियो पर सुनकर मैं नाराज हुआ था, लेकिन पूरा वक्तव्य पढ़कर मेरे मन में कोई शंका न बची। मैं एक क्षण को भी नहीं सोच सकता था कि गांधीजी अंग्रेजों से भारत की आजादी के मामले में समझौता करेंगे, लेकिन उनके ऐसे वक्तव्य ने उन्हें विश्वनेता के स्तर से नीचे गिराया है, क्योंकि वक्तव्य में पक्षपात स्पष्ट है। दार्शनिक नीत्शे ने अवश्य कहा है कि जब कोई सद्भावना से पूरी दुनिया को छाती से लगाना चाहे तो एक व्यक्ति को प्रतिनिधि मानकर गले लगाया जा सकता था। हममें से कुछ किसी व्यक्ति को गले लगाते समय सोच सकते हैं कि हम समस्त मानव-जाति के प्रतिनिधि को गले लगा रहे हैं। यह एक महान कल्पना है।

मैंने गांधीजी को लिखा कि यह पूरी तरह साफ है कि जब उन्होंने वेस्टमिनिस्टर एबे की बरबादी की बात कही, तब वे समस्त मानवता और उसके निर्माण और ऐतिहासिक वैभव को गले लगाने का प्रयत्न कर रहे थे और यह सम्भव न था, अतः वेस्टमिनिस्टर एबे को प्रतीक माना था। मुझे खुशी है। कि गांधीजी

ने 'हरिजन' में तत्काल ही दूसरा वक्तव्य प्रकाशित किया कि चाहे वेस्टमिनिस्टर एबे, चाहे रूस का क्रेमलिन, चाहे अमरीका का जेफरसन स्मारक, किसी की भी बरबादी से उन्हें क्लेश होगा। बाद में जब मैं गांधीजी से मिला तो उन्होंने कहा कि जब भी मैं उनके किसी वक्तव्य में देश या विश्व या युद्ध-सम्बन्धी कोई ऐसी बात देखूँ तो उन्हें तत्काल लिखा करूँ, इससे किसी भी अवसर पर मैं जो भी अनुभव करता, उनके कहने की आजादी पा गया।

फिर जेल में लम्बी अवधि बिताकर जब मैं सन् 1942 के विद्रोह के कुछ हफ्ते पहले बाहर आया तो पाया कि कांग्रेस के अन्य नेतागण बड़ी तेजी से देश को, अंग्रेजों के दृष्टिकोण को, सुपुर्द करते जा रहे हैं। वे जापान के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता में छापामार दल संगठित करने जैसी बातें कर रहे थे। सर स्टेफर्ड क्रिप्स एक शिष्ट-मंडल के साथ भारत आए थे। मेरे मन में विचार आया कि गांधीजी पर दबाव डाला जाए कि वे ब्रिटिश सरकार से कहें कि वह भारत के सभी शहरों को मुक्त घोषित करें। युद्ध के दौरान किसी भी देश को हक है कि वह दुश्मन को भी यह मानने को विवश करे कि कोई शहर या कई शहर मुक्त हैं। जब कोई शहर मुक्त घोषित होता है तब उस शहर को हथियारों का उत्पादन-केंद्र नहीं बनाया जाता। उसका परिणाम होता है कि दुश्मन भी उस शहर को बरबाद नहीं करता, न वहाँ बम गिरता है। मैं यह सुझाव लेकर गांधीजी के पास गया। मुझे याद है कि इस विषय पर हम लोग तीन दिनों तक लगातार बहस करते रहे। मैंने इतिहास, भूगोल और राजनीति सभी दृष्टियों से अपने सुझाव का औचित्य प्रमाणित किया। मैंने अश्वत्थामा और कुरुक्षेत्र आदि की मिसालें दीं। मैंने कहा कि पुराने युगों में भी युद्धरत सेनाएँ मानवता की दृष्टि से बड़े शहरों में नहीं लड़ती थीं। इस सम्बन्ध में अतीत के कुछ उदाहरण भी मौजूद हैं। अंत में गांधीजी ने कहा, "तुम्हारे तर्क में पेचीदगी है।" मैं ऐसी किसी पेचीदगी के प्रति सतर्क न था, सिवाय इसके कि मेरे विचार के पीछे अंग्रेजों से भारत को पूर्ण स्वतंत्रता की इच्छा जरूर थी। तब गांधीजी ने कहा, "मैं समझ रहा हूँ कि, तुम मुझे कहाँ खींच ले जाना चाहते हो ! तुम अंग्रेजों से गहरी लड़ाई करना चाहते हो, क्यों ?" मैंने कहा—“हाँ, मैं यही चाहता हूँ।” तब वे बोले, "फिर सीधे यही क्यों नहीं कहते ? अच्छा ठीक है। हमें आगे सोचना चाहिए। लेकिन केवल लड़ाई की माँग करके ही तो लड़ाई नहीं की जा सकती। घटनाएँ क्या रूप लेती हैं, देखना होगा न ?"

मेरे विचार को चाहे गांधीजी ने पूरी तरह न माना, पर यही क्या कम था कि फिर लगातार तीन महीने तक हर सप्ताह 'हरिजन' में वे एक लेख लिखकर घोषित करते रहे कि वे इस युद्ध में किसी भी पक्ष के साथ नहीं हैं। युद्ध में अपनी निष्पक्षता की घोषणा के साथ-साथ, वे भारत की आजादी की बराबर माँग करते रहे। शहरों की मुक्ति के प्रसंग में बहस के चौथे व अंतिम दिन गांधीजी ने मुझे बुलाकर कहा, "तुम मेरी अंतरात्मा की आवाज पर हँस सकते हो।" मैं कभी यों नहीं हँसा। अपनी अंतरात्मा की बात से शुरू करके उन्होंने कहा कि वे लगातार मेरी इस कल्पना के सम्बन्ध में विचार करते रहे हैं और पिछली रात वे दो ही बजे जग गए। इस बात से मैं क्षुब्ध हुआ कि उन्हें इतनी तकलीफ उठानी पड़ी। उन्होंने बताया कि रात में ही उन्होंने वायसराय लार्ड लिनलिथगो को पत्र लिखा है। उन्होंने मुझे पत्र दिखाया। पत्र बिल्कुल साफ था। इसमें गांधीजी ने मुझे अहिंसा के प्रति आस्था रखने वाला सोशलिस्ट लिखा था। लिखा था कि मैंने उन्हें प्रेरित किया कि वे भारतीय शहरों को मुक्त घोषित कराएँ। मैंने गांधीजी से कहा कि पत्र तो बिल्कुल ठीक है, पर क्या वे इसका तनिक भी संकेत नहीं दे सकते हैं कि उन्हें भी यह विचार स्वीकार है। इस पर उन्होंने कहा कि वे ऐसा नहीं लिख सकते। तब मैंने कहा, "तब वायसराय मेरी कल्पना पर क्यों ध्यान देंगे? आखिर मैं कौन हूँ? मैं कर भी क्या सकता हूँ? यदि आप मेरे विचार को आंशिक रूप में भी स्वीकार करते तो वायसराय पत्र का उत्तर देने के पहले दो बार सोचते।" इस पर गांधीजी ने कहा कि मेरा सोचना गलत है। गांधीजी ने एक कल्पना के विषय में पत्र लिखा, यही वायसराय को समझ-बूझकर उत्तर देने के लिए काफी है। मैं यह बात मान गया और संतुष्ट भी हुआ। लेकिन अभाग्य की बात कि तब कमरे में एक व्यक्ति और था और उसने कहा, "देखिए, बापू! आप यह पत्र लिखकर इसे सीधे पुलिस के हाथों सौंप रहे हैं।" बस इसी पर इस बात का अंत हो गया। पत्र भेजा न गया, क्योंकि वह तर्क गांधीजी को बड़ा उचित लगा। मैंने बहुत चाहा और कहा कि वे मेरे लिए तनिक भी न डरें, क्योंकि अंग्रेज सरकार मुझे गिरफ्तार तो करेगी ही, चाहे उस पत्र के बहाने या दो या तीन महीने बाद, कुछ अंतर नहीं पड़ता। लेकिन मेरा कोई तर्क गांधीजी को राजी न कर सका और उन्होंने पत्र न भेजा।

उसी दरमियान, मैंने यह भी प्रयत्न किया कि गांधीजी दुनिया की सरकारों—जितनी भी सम्भव हो सकें—से कहें कि ऐसी बुनियाद बनाई जाए जिस पर एक नयी दुनिया बन सके। मैंने चार तत्व प्रेषित किए थे

- (1) एक देश की दूसरे देश में अब तक जो भी पूँजी लगी है, उसे जब्त करना
- (2) सभी लोगों को संसार में कहीं भी आने-जाने और बसने का अधिकार
- (3) दुनिया के सभी राष्ट्रों को राजनीतिक आजादी और संविधान परिषदें
- (4) किसी तरह की एक विश्व नागरिकता।

यही चार तत्व आधार थे। पर गांधीजी ने फिर भी कोई पत्र न लिखा। मैं उन बातों के विस्तार में न जाऊँगा कि उन्होंने क्यों नहीं लिखा। मेरा अपना ख्याल था कि वे समझते थे उस समय की स्थिति को देखते हुए, यह एक अव्यावहारिक कदम होगा। जहाँ तक सिद्धांत रूप में स्वीकार करने की बात थी, उन्हें कोई आपत्ति न थी, लेकिन इस सिद्धांत के लागू होने की सफलता पर उन्हें विश्वास न था। उन्होंने विश्व की सरकारों से कहने का विचार पसंद न किया, शायद उन्होंने सोचा कि वे किसी से ऐसा न करा सकेंगे। यह उनकी सतर्कता का एक उदाहरण था। हाँ, मुझ जैसा व्यक्ति जिसके पास खोने की प्रतिष्ठा न हो, वह कोई भी बात कह सकता है, लेकिन नेताओं और महान नेताओं को अपने हर कदम के प्रति सतर्क रहना होता है। लेकिन गांधीजी ने 'हरिजन' में इस सिद्धांत को समर्थन दिया, पूर्ण समर्थन, जिससे लगता है कि विश्व की समस्याओं के प्रति, वे अपना दिमाग पूरी तरह खुला रखते थे।

एक घटना सर स्टेफर्ड क्रिप्स से सम्बन्धित है, जो आकर जा चुके थे। 1942 का साल था। मैंने 'क्रिप्स-रहस्य' पर एक लेख लिखा, जो बहुत खुशनुमा तो न था। उसमें एक वाक्य इस प्रकार का था कि ब्रिटिश राज की आवश्यक विवशता है कि ब्रिटिश साम्राज्य बना रहे। इंग्लैंड में ब्रिटिश राज्य, ब्रिटिश लोगों को अपने लिए, अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटिश साम्राज्य की जरूरत है। ब्रिटिश साम्राज्य ब्रिटिश राज्य की आवश्यकता है। मेरा लेख पूरा पढ़ने के बाद गांधीजी ने उसी विशेष स्थल पर उँगली रखकर पूछा, "इस वाक्य से तुम्हारा ठीक मतलब क्या है?" मैंने कहा कि यदि ब्रिटिश लोग कभी भारतीय मार्ग के

औचित्य को समझ भी जाएँ तो उस समझ को कार्यरूप देने के लिए कोई कदम उठाना उनके लिए सम्भव न होगा। उन्होंने पूछा, 'क्यों?' मैंने कहा, "क्योंकि इंग्लैंड ने इधर आजादी की जो सघनता प्राप्त की है, वे अपने वर्तमान रहन-सहन के स्तर को कभी कायम न रख सकेंगे, यदि उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य छोड़ना पड़े, विशेष कर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य।" गांधीजी ने कहा, "क्या वे ऑस्ट्रेलिया या कनाडा नहीं जा सकते?" इस पर मैंने कहा कि "जब कोई अंग्रेज ऑस्ट्रेलिया या कनाडा में जाकर बसता है तो वह ब्रिटिश नागरिक नहीं रह जाता है। वह एक ऑस्ट्रेलियन या एक केनेडियन हो जाता है, इस रूप में ब्रिटिश राज्य घटता है। इसलिए मुझे तो यह सम्भावना नहीं दिखती कि ब्रिटिश राज्य अपने नागरिक को दूसरे क्षेत्र में भेजकर अपनी शक्ति कम करना चाहेगा। यह एक परम्परागत राजनीतिक सिद्धांत है। मैं यह कोई मौलिक बात नहीं कह रहा। इसी तरह दुनिया में होता रहा है और मैं समझता हूँ कि हर राष्ट्र का अपने अस्तित्व के प्रति एक दायित्व है।"

यह बहस लम्बी चली। गांधीजी ने कहा, "हो सकता है, पर मैं तो यही मानकर चलूँगा कि इंग्लैंड के लिए यह सम्भव है कि वह भारत को अपने अधिकार से मुक्त करे।" मैं यह वाक्य सदा याद रखना चाहूँगा। इसी के साथ जुड़ा है, हृदय परिवर्तन का मामला। यह मुहावरा सदा ही गांधीजी के आलोचकों द्वारा ही नहीं, उनके प्रशंसकों तथा अनुयायियों द्वारा भी दूषित किया गया है। जहाँ कुछ लोगों ने इसे विद्रोह का हनन करने वाला हथियार माना है, इन्हीं कुछ लोगों ने इसका प्रयोग करके इसे विद्रोह का बीज बनाया है।

यों तो बातें हैं, पर मैं अब उस समय की चर्चा करूँगा, जब भारत की समस्या का हल, लार्ड माउंटबेटेन ने देश के बँटवारे के रूप में रखा। मैं बहुत संक्षेप में यही कहूँगा कि उस समय असंख्य दंगे हो रहे थे, चाहे कलकत्ता, पंजाब या कहीं भी। हिन्दू और मुसलमान दोनों जानवर बन गए थे, और दोनों ही एक-दूसरे को बुराई में ही बहकर दबाना चाहते थे। उस समय गोवा में कुछ हुआ था, और वहाँ मैंने कुछ काम किया था। और तब गांधीजी ने बिना मुझसे यह पूछे कि क्या हुआ है और कैसे हुआ है, तत्काल ही मेरे कार्यों के समर्थन में वक्तव्य प्रकाशित कराया जो निश्चय ही बड़ा महान और प्रोत्साहित करने वाला

कार्य था, क्योंकि उन्हें इस सम्बन्ध में कुछ भी विस्तार से मालूम न था। बाद में उन्होंने बताया कि उन्हें दस बजे सवेरे गोवा में मेरी गिरफ्तारी की सूचना मिली और बारह बजे उन्होंने मेरी गिरफ्तारी की भर्त्सना तथा गोवा आंदोलन के समर्थन में वक्तव्य दे दिया था। फिर उन्होंने थोड़े क्लेश और शिकायत के ढंग से कहा कि यद्यपि मैंने उन्हें नहीं बताया था कि मेरी क्या योजना है, फिर भी उन्होंने अपना कर्तव्य पालन किया। मैंने उन्हें बताया कि मुझे स्वयं ही मालूम न था कि मैं गोवा में क्या करूंगा और वास्तव में, जैसा मैंने उनसे बताया मुझे कुछ भी अंदाज न था। मैं वहाँ अपने मित्र जूलियो मैंनेजिस से मिलने गया था। उसके घर पर जब मैं ठहरा था कि तब तीसरे या चौथे दिन हर तरह के लोग, विद्यार्थी, पुलिस वाले, अध्यापक, व्यापारी, सरकारी कर्मचारी मेरे, पास आए और बोले कि वहाँ उनके कोई नागरिक अधिकार नहीं हैं और वे पुलिस को दिखाएँ और स्वीकृति लिये बिना, शादी के निमन्त्रण-पत्र भी नहीं छाप सकते। ऐसे अवसरों पर गांधीजी का अपना ढंग होता था, काम करने का, चाहे वह गोवा का आंदोलन हो या नेपाल का और वे बिना हिचक व देरी किए अपना समर्थन प्रदर्शित करते थे। इसकी पृष्ठभूमि में उनका विश्वास होता था कि एक बार जिसकी योग्यता पर वे सहमत हो जाते थे वह उनकी दृष्टि में बुरे की अपेक्षा अच्छे काम ही अधिक करता था। उन्होंने मुझे पसन्द करना शुरू कर दिया था और ऐसा मानते थे कि मेरे काम उचित ही होंगे। इससे मेरा नैतिक दायित्व अधिक बढ़ जाता था, इसीलिए जब उन्होंने बार-बार जिद्द किया कि मैं कलकत्ता में रूकूँ, पहले तो मैंने आनाकानी की, क्योंकि मैं जानता था कि कहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच हो रहे रक्तपात और दंगे में मैं कुछ भी करने में समर्थ न था, लेकिन तीसरे या चौथे दिन मैंने विवश होकर कहा, “ठीक है, मैं ठहरता हूँ।”

तब तक मुझसे कुछ भी न कहा गया था कि मुझे वहाँ क्या करना है। न ही मैंने गांधीजी से पूछा, न उन्होंने ही बताया कि क्या करना है। अंत में मैंने उनसे कहा, “मैं आप से यह प्रश्न करना नहीं चाहता, फिर भी आप क्या चाहते हैं कि मैं क्या करूँ?” उन्होंने कहा कि उन्हें यह बताना नहीं है कि मैं क्या करूँ। मैं जो उचित काम समझूँ, वही करूँ। बस मुझे कलकत्ता में रहना है। फिर जैसे बाद में कुछ ध्यान में आया, ऐसा वे बोले, “मैं चाहूँगा कि तुम यहाँ अपने

पुराने मुसलमान दोस्तों को खोजकर उनसे घरों में जाकर मिलो और उनसे अपनी मित्रता फिर चालू करो।” यह बहुत आसान, छोटा और मामूली काम लग सकता है। लेकिन ऐसा था नहीं। उस समय सारा शहर दो युद्ध-स्थलों में बँटा था, एक मुसलमानों का और दूसरा हिन्दुओं का। उस समय एक हिन्दू का मुसलमान मुहल्ले में और एक मुसलमान का हिन्दू मुहल्लों में जाना कितना दुश्वार था। वास्तव में, पूरे एक वर्ष तक, दो मुहल्लों के बीच की सीमा पर बाजार लगते थे। इससे कोई मतलब नहीं कि वे किस सीमा तक दंगा करते थे, पर उनको आपसी व्यवहार और व्यापार करना ही पड़ता था। अंडे व कपड़ों का लेन-देन होता था और हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने मुहल्लों से आकर बाजार में अपनी सामान भरी टोकरी छोड़ जाते थे। उनके समय निश्चित थे। एक दल आकर जाता और दूसरा आता, अपनी टोकरियाँ बटोरता और दूसरे सामान छोड़ जाता। यह कितना अजीब है। वे एक-दूसरे की गर्दन पर छुरियाँ चलाते, पर व्यापार में वे उतने ही ईमानदार व सच्चे थे और वहाँ सब व्यापार अच्छी तरह ही चलता था।

ऐसी ही परिस्थिति थी। कलकत्ता में मेरे पहले के कई मुसलमान दोस्त थे और मैंने उन्हें खोजने की कोशिश शुरू की। लेकिन जब भी मैं किसी को उनके घर भेजता तो सभी जगहों से एक-सा जवाब आता कि अमुक कलकत्ता से बाहर चला गया है या अमुक घर पर नहीं था या अमुक स्वयं आकर मिलेगा, पर कोई कभी न आता। यह क्रम पाँच या छह दिनों तक चला। जब मैं पूरी तरह उकता गया और मैं इतने दिनों में एक मुसलमान से भी उसके घर पर नहीं मिल पाया, अतः मैं बिना पूर्व सूचना या पूर्व निश्चय के निकल पड़ा। मैंने कभी उस उत्तेजना की कल्पना भी न की थी जो उस समय देखने को मिली, जब मैं एक मुस्लिम मुहल्ले में घुसा। पूरी कहानी बताने के पहले मैं यह बता दूँ कि जब मैं लौटा तो पाया कि दो सौ या तीन सौ हिन्दू सीमा पर खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे कि जानें कि मुझे क्या हुआ। जब मैं भीतर घुसा तो मुझे सारा वातावरण बदला नजर आया। कुछ चेहरे बिल्कुल हिंसक उत्तेजना से भरे दिखे, और मैं उन्हें समझ सकता था। अगर कोई मुसलमान किसी हिन्दू मुहल्ले में जाता तो उसे भी उन्हीं क्रुद्ध निगाहों का मुकाबला करना पड़ता। चाहे मेरे भीतर एक तरह का भय था, जब भी मैं वैसा कोई चेहरा देखता तो मुस्करा उठता। मैं बस इतना ही

करता, और यदि वह अत्यधिक क्रुद्ध चेहरा होता तो मैं कभी-कभी उसी से पूछ बैठता कि फलौ व्यक्ति कहाँ रहता है, जिसे मैं खोज रहा हूँ। मैं निश्चय रूप से कह सकता हूँ कि मेरे इस छोटे-से वाक्य से वातावरण बहुत कुछ हल्का हो जाता। कुछ भी हो, आखिर हम इंसान ही हैं, और यदि किसी व्यक्ति से आप मुस्कराकर मिलें और साफ व साधारण प्रश्न करें तो आप उचित इंसानी व्यवहार ही पाएंगे, यद्यपि यह शत-प्रतिशत होगा ही यह मैं नहीं कह सकता।

हो सकता है कि यही अच्छा होता कि इंसानियत खत्म हो जाती और मैं यह बताने को न रहता। लेकिन ऐसा ही चलता रहा और उनमें से कुछ ऐसे भी मिले, जो हमें रास्ता भी बताते थे। एक छोटा-सा लड़का, ऐसा भी मिला जो मुझे मेरी मंजिल तक ले गया। एक घर, जो उस समय कलकत्ता के मुस्लिम विद्यार्थियों का केंद्र था। उन विद्यार्थियों से मेरी दो घंटे तक बहस होती रही, उसी ढंग से या शायद वैसी ही जैसी मेरी बहस हिन्दू विद्यार्थियों से होती, क्योंकि एक बार मैं जब घर में घुस जाता था तो सभी सीमाएँ टूट जाती थीं। मैं अपने आपका मालिक होता। उन नौजवान विद्यार्थियों को मैंने भारत के अन्य विद्यार्थियों से किसी प्रकार भी भिन्न न पाया। उन्होंने मुझसे सीधे सवाल किए। उन्होंने पूछा कि क्या मैं जय प्रकाश नारायण के इस कहने को मानता हूँ कि जिन्ना गद्दार या मीर जाफर है। मैं जानता था कि यह प्रश्न भावुक उत्तेजना के कारण था। तब मैंने एक सच्चा उत्तर दिया। मैंने कहा कि हाँ, यद्यपि मैंने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया न करना चाहूँगा, और मैंने जब विस्तार से बताया तो कुछ लड़के बुरी तरह बिगड़े, नाराज हुए। उन्होंने कहा कि यदि मैं ऐसा सोचता हूँ तो ठीक है, वे भी मुझे गद्दार समझते हैं। मैंने कहा कि मैं यही जानने तो आया था, यदि वे चाहें तो मुझे गद्दार समझें। तब सचमुच इन नौजवानों ने एक नुस्खा सामने रखा। उन्होंने कहा कि यदि हम पाकिस्तान को स्वीकार करें तो वे और हम एक साथ बिड़लाओं और इस्पहानियों से लड़ेंगे। अपने उत्साह में नौजवानों ने यही सोचा था। लेकिन मैं यह जरूर कहूँगा कि काफी हद तक वाद-विवाद, गरमी, उत्तेजना और सब कुछ रहा, लेकिन यह एक साधारण विवाद ही था और विद्यार्थी दल अपने से दस-पंद्रह वर्ष बड़ी उम्र के व्यक्ति से बातें कर रहे थे। अतः उतना सम्मान भी वे बराबर प्रदर्शित करते रहे। मुझे बड़ा अच्छा लगा, जब उनमें से एक ने कहा, “ऐसा क्यों है कि हमारे यूनिवर्सिटी के

प्रोफेसर हमसे मिलने क्यों नहीं आते, जैसे तुम आए हो?” उन्होंने कुछ स्थानीय नेताओं के नाम भी लिये। मैंने कहा—“हाँ, मैं नहीं जानता, वास्तव में शायद मैं भी अपने से न आता, यदि गांधीजी का यह विचार न होता।” इसी प्रकार मुझे अनेक अनुभव हुए। यह सभी गांधीजी की कथा का एक अंश है, क्योंकि उनके बिना शायद यह अनुभव भी न होते। यह बहुत ही छोटा और साधारण काम था और जब पहली बार सुना था, तब इसके गम्भीर नतीजों के बारे में सोच भी न पाया था। यही काम मेरे एक अन्य दोस्त सचीन मित्रा ने शुरू किया था और इसी प्रयोग में, उसे अपनी जान गंवानी पड़ी। बहुत से लोग इसी तरह मरे और ऐसी मौतों से हम चाहे जितने भी दुःखी हों, प्रश्न यह है कि जीवन का दृष्टिकोण क्या है? 15 अगस्त 1947 को अतुलनीय उत्साह था, जब हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एक-दूसरे को गले लगाना शुरू किया और एक क्षण तो तमाम कटुता और धर्मोन्माद, जो एक साल या अधिक से व्याप्त था, समाप्त हो गया और सभी मुहल्ले सभी के लिए खुल गए। हमें उसी क्षण एक विचार कौंधा और हमने पूरी रात का जुलूस संगठित किया। उस जुलूस ने समस्त कठघरों व रुकावटों को तोड़ डाला।

एक बार दिल्ली में एक मुसलमान लड़का मुझसे आ टकराया। वह स्वाभाविक रूप से समझता था कि मेरे साथ होने पर वह पूरी तरह सुरक्षित है, लेकिन कम उम्र होने के कारण वह यह नहीं समझ पाया कि भीड़ क्या कर सकती है। एक क्रुद्ध भीड़ के मुकाबले मैं भला क्या हूँ? मैं जानता था कि इस लड़के के कारण कोई बड़ी मुसीबत हम पर आ सकती है। लेकिन मैं उससे कुछ कह भी नहीं सकता था, क्योंकि उसका अपना व्यवहार बिल्कुल सहज था। उस समय दिल्ली में एक मुसलमान लड़के के पीछे कितनी क्रोध-भरी भीड़ लग सकती है, यह जानते हुए भी मैं उसे रोक न सका। मैं जानता था कि हम लोग झंझट की ओर बढ़ रहे हैं, अतः मैंने अपने-आप से पूछा कि क्या किया जाए! देखें क्या होता है और आखिरकार वही हुआ जिसका मुझे डर था। मेरी मोटर रोक दी गई। वह लड़का कुछ मुसलमान औरतों और घर छोड़कर भागते लोगों में हिम्मत बँधा रहा था। गाड़ी को क्रुद्ध भीड़ ने घेर लिया। भीड़ उस लड़के का सिर माँग रही थी। भीड़ का कहना था कि उस लड़के के पास हथियार है, जिन्हें उसने अपने कपड़ों में छिपा रखा है और मैं दूर हट जाऊँ ताकि वे उसकी

खानातलाशी ले सकें। निश्चय ही, यह एक बेहुदा माँग थी और इसका नतीजा कुछ भी हो सकता था। मैंने मोटर के दरवाजे पर अड़कर भीड़ का सामना किया। कुछ लोग चीखे कि मैं कौन हूँ! एक ने कहा कि मैं तब कहाँ था, जब लाहौर की घटनाएँ हुईं। मैं भी थोड़ा क्रोधित हुआ और मैंने भी चीखकर कहा कि मैं भी लम्बे अरसे तक लाहौर किले में था और ब्रिटिश राज में जब लाहौर किले में सब हो रहा था, तब वे कहाँ थे।

भीड़ का बड़ा हिस्सा शान्त था पर बिल्कुल सहज नहीं, क्योंकि वे यहाँ कहते थे कि मैं लड़के के रास्ते से हट जाऊँ ताकि वे तलाशी ले सकें। प्रकट रूप में उसकी तलाशी के अर्थ मैं जानता था कि वे उसके संग तलाशी के स्थान पर बहुत बुरे बरताव करेंगे। अतः मेरे लिए अपनी जगह से हटना असम्भव था। अन्त में तीन चार लोगों को आगे बढ़कर मुझे बलपूर्वक मोटर के दरवाजे से हटाना पड़ा। सौभाग्य की बात थी कि पूरी भीड़ ने बल का प्रयोग नहीं किया, न वे मुझे चोट ही पहुँचाना चाहते थे। वे मुझे पकड़कर अलग खींचने और हटाने की कोशिश करते थे। वे कुछ दूर मुझे खींचते और मैं फिर अपनी जगह आकर अड़ जाता। यह खींचा-तानी चलती रही। मैं जानता था कि वे बुरे काम भी कर सकते थे। मैं यहाँ यही कहना चाहता हूँ कि चाहे कितनी बड़ी भीड़ हो, चाहे भीड़ कितनी भी क्रुद्ध हो, परन्तु यदि पहले से योजना नहीं है तो भीड़ में गुंडों की तादाद थोड़ी ही होती है, बाकी लोग तो केवल उत्तेजित दर्शक मात्र ही रहते हैं, और वहाँ एक भी भला आदमी हो, मैं स्वयं को भला नहीं कहता पर, वास्तव में तो वह अकेला, गुंडों का मुकाबला कर सकता है। हमने गांधीजी से यही सीखा था।

माउंटबेटेन के बँटवारे की यही पृष्ठभूमि थी। उस समय कांग्रेस के भीतर के हम समाजवादियों को गांधीजी परख रहे थे। मेरे दिमाग पर तो यही असर था। हमसे कई के साथ सामूहिक रूप से तथा अकेले भी उन्होंने बातें की थीं और हर समय मैं यही समझता था कि वे यही परखना चाहते थे कि क्या हम लोगों पर वे ब्रिटिश अधिकारियों और उनकी अपनी कार्यकारिणी के विरुद्ध लड़ने में भरोसा कर सकते हैं। वे यह जान गए थे कि कार्यकारिणी के श्रेष्ठीगण देश के बँटवारे का माउंटबेटेन प्रस्ताव स्वीकार कर चुके थे और वे देश में ऐसे शक्ति-केंद्रों की तलाश में थे जो कार्यकारिणी द्वारा माउंटबेटेन प्रस्ताव को स्वीकार किए जाने पर

भी उसका विरोध करने में उनका साथ दे सकें। मैं यह तो अवश्य कहूँगा कि हम पर उन्हें पूरा भरोसा नहीं हो सका, क्योंकि अन्त में उन्होंने यही सोचा कि वे कुछ नहीं कर सकते। माउंटबेटेन प्रस्ताव पर विचार करने को कार्यकारिणी की जो बैठक हुई, उसमें एक, दो या शायद तीन ही लोग मौखिक रूप से कुछ कह सके। वास्तव में उस बैठक में दो लोग ही बोल रहे थे, बाकी सब चुप बैठे थे। मैं समझ गया कि खेल खत्म हो गया। उस बैठक में गांधीजी के प्रति भी बड़ा रोष दिखाया गया। एक स्थान पर सरदार पटेल ने मुझसे कहा कि भूल जाओ बँटवारे के बाद भारत का क्या होगा। वे तब जिन्ना से डंडे की भाषा से बात करेंगे। मैंने कहा कि मैं साल-भर से तलवार की भाषा सुन ही रहा हूँ, (यह मुहावरा साल-भर पहले सरदार पटेल ने स्वयं ही प्रयोग किया था) अब भविष्य में डंडे की भाषा भी सुनूँगा। तब सरदार पटेल ने कहा कि उन्होंने आजादी की लड़ाई हमारे लिए की है। आखिर हम तुम्हारे लिए ही तो आजाद भारत छोड़ जाएँगे, ताकि तुम उसका कुछ बना सको। इस पर मैंने कहा “धन्यवाद, पर यदि आप आजादी की लड़ाई में ‘जनरल’ की तरह लड़े हैं तो हम भी सिपाही की तरह लड़े हैं।” इसमें लेने-देने की बात भला क्या हो सकती थी! क्योंकि यदि कुछ बूढ़े लोगों के दिमाग में यह आ जाए कि वे आने वाली पीढ़ियों के लिए कुछ प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं, यह कोई स्वस्थ बात न थी। हर पीढ़ी कुछ-न-कुछ तो करती ही है।

माउंटबेटेन प्रस्ताव के सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रस्ताव के समय सुझाव आया था कि हमें दो-राष्ट्र-सिद्धांत को इनकार कर देना चाहिए। पर मूल प्रस्ताव जो श्री नेहरू ने अपनी जेब से निकाला, उसमें उसका जिक्र न था। नतीजे के रूप में दो-राष्ट्र-सिद्धांत की उसमें स्वीकृति थी। इसके अर्थ थे कि हमने भारत का चित्र जो अपने मन में पहले खींचा था, वह सदा के लिए सपना ही बना रह जाएगा और दो-राष्ट्र-सिद्धांत के इनकार का जो मैंने सुझाव दिया था और जिसे गांधीजी का समर्थन प्राप्त था, वह वाक्य ही इस मूल प्रस्ताव में न था। यद्यपि पहले वह जोड़ा गया था। अतः जब मैंने अपना सुझाव दुहराया और गांधीजी ने अपना समर्थन दिया, तब श्री नेहरू ने बड़े क्रोध में कहा कि हम लोग जिन्ना की बात को गलत समझकर बेकार की बहस में उलझते हैं। तमाम लोगों के ऐसी स्थिति में भाई-भाई कहने से क्या मतलब, जब लोग एक-दूसरे का गला काट रहे हैं? तब मैंने जरा ताज्जुब से कहा कि अमरीका के गृह-युद्ध में तीन या चार लाख लोग मारे गए थे,

पर वे भाई-भाई तो बने रहे। हिन्दू और मुसलमान आज चाहे जानवरों की तरह एक-दूसरे को मारें, पर उनका भाईचारा खत्म न होगा। गांधीजी सब बातें सुन रहे थे। बीच-बीच में वे मुस्कुराते और टोक-टाक भी करते। मेरे कहने का मात्र तात्पर्य यह है कि गांधीजी बँटवारे के पूरी तरह विरुद्ध थे।

तब गांधीजी का महान प्रस्ताव आया। उन्होंने कार्यकारिणी के नेताओं से कहा कि माउंटबेटेन और उनके बीच हुए समझौते की उन्हें कोई सूचना नहीं दी गई। इस पर नेताओं ने साफ इनकार करते हुए कहा कि उन्होंने गांधीजी से बताया था कि क्या हो रहा है, हाँ, विस्तार से नहीं पर साधारण रूप में। लेकिन यह स्पष्ट हो गया कि गांधीजी से यह बात साफ नहीं बताई गई थी कि ब्रिटेन का इरादा भारत का बँटवारा करने का है। तब गांधीजी ने कहा—“अब जब आप लोग जबान दे ही चुके हैं तो इसके मायने हैं कि आपने बँटवारे का सिद्धांत भी स्वीकार कर लिया है। मैं नहीं चाहता कि आप अपनी बात से वापस जाएँ। लेकिन क्या आप मेरे एक प्रस्ताव पर विचार करेंगे? ब्रिटिश वायसराय को लिखो कि कांग्रेस कार्यकारिणी ने बँटवारे का सिद्धांत मान लिया है लेकिन इस सिद्धांत को अमली रूप देने में ब्रिटिश अधिकारियों का हाथ नहीं रहना चाहिए। इस सिद्धांत को मानने के फौरन बाद ही अंग्रेज अधिकारी चले जाएँ, और कांग्रेस दल तथा मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि एक साथ बैठकर उस सिद्धांत को अमली रूप दें।” यह बड़ा महान व अनुपम सुझाव था। मैं नहीं जानता कि यह एक राजनीतिक की संत बनने की चाह थी या संत की राजनीतिक बनने की। इससे कोई विशेष अंतर नहीं होता, पर यह एक महान सुझाव था, लेकिन कार्यकारिणी ने इसको केवल इतना ही महत्व दिया कि सभी एकदम खामोश रहे।

केवल एक व्यक्ति ने बड़ी कड़वाहट से कहा कि इसके दो मतलब हुए कि हम प्रस्ताव से इनकार कर दें, क्योंकि ब्रिटिश अधिकारियों की गैरमौजूदगी में भला मुस्लिम लीग, कांग्रेस दल से सिद्धांत को अमली रूप देने के लिए क्यों बात करेगी? तब भला गांधीजी क्या करते? उनका सुझाव गिर गया, लेकिन यदि इसे मान लिया जाता तो शायद कार्यकारिणी के नेताओं का बचाव भी हो जाता जो माउंटबेटेन से उसके प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए वचनबद्ध थे और कह सकते थे—सिद्धांत स्वीकार है, लेकिन उसे अमल में लाने का काम

मुस्लिम लीग और हमारे प्रतिनिधि करेंगे। शायद, इसके यही परिणाम होते कि सिद्धांत भी व्यर्थ हो जाता, क्योंकि अमली बातचीत के लिए मुस्लिम लीग कभी भी कांग्रेस से बात करने को तैयार न होती। तब शायद भारत का भाग्य कुछ और ही होता। लेकिन ऐसा होना न था। गांधीजी को मुस्लिम लीग, अपनी कार्यकारिणी और ब्रिटिशों से एक साथ लड़ने के लिए कोई आधार नहीं मिल रहा था। हम लोग उस कार्य के लिए अयोग्य थे।

इन दिनों मेरी गांधीजी से काफी लम्बी बातचीत होती थी। एक दिन सुबह, उन्होंने मुझसे शाम को, फिर मिलने को कहा, क्योंकि उन्हें मुझसे कुछ बहुत जरूरी बातें करनी थीं। अतः जब उन्होंने शाम की प्रार्थना पूरी की तब मैं गया और उनके टहलने में साथ गया। उन्होंने और लोगों से चले जाने को कहा, फिर मेरे एक कंधे पर अपना एक हाथ रखकर उन्होंने बातचीत शुरू की, जिसकी मैं उनसे कदापि आशा न करता था। मुझे वे तेरह वर्षों से जानते थे और इस दौरान में उन्होंने कभी मेरे जीवन के अंतरंग के विषय में बातें न की थीं। अतः मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने मेरे सिगरेट, चाय और कॉफी पीने के सम्बन्ध में बात करना शुरू किया। तेरह वर्ष की लम्बी अवधि में उनसे अनेक बार लम्बी बातचीत करने के बाद भी मैंने ऐसी आशा न की थी कि कभी मुझे उनसे सिगरेट पीने जैसी व्यक्तिगत बात पर भी बातें सुननी पड़ेगी। तब मैं सिगरेट पीता था, और उन्होंने कहा कि मैं बहुत ज्यादा सिगरेट, चाय और कॉफी पीता हूँ। फिर उन्होंने विस्तार से बताया कि किसी व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए सिगरेट, चाय और कॉफी कितनी नुकसानदेह हैं। यही नहीं, उन्होंने सिगरेट और चाय व कॉफी की आदत छोड़ने का जापानी व चीनी ढंग भी बताया। इसके आगे भी उन्होंने कहा कि यह मसला भी समाजवाद से सीधा जुड़ा है। उन्होंने कहा कि एक समाजवादी के नाते मुझे जनता से एकरूप होना चाहिए। जनता का प्रतिनिधि और एकरूप होने के रास्ते में यही आधार है। फिर मुझसे पूछा कि मैं किस आधार पर भारत में सिगरेट पीए जाने के औचित्य को सिद्ध करूँगा? मेरे जीवन में ऐसे संकोच के क्षण बहुत ही कम आए थे। मेरे कंधे पर उनका हाथ था। मैं भागना चाहकर भी भाग न सकता था, अतः चुपचाप सुनने के अलावा कोई रास्ता न था। मैं चुप रहा। लेकिन वे चुप न हुए, क्योंकि वे मामूली अर्थ में महान व्यक्ति न थे, इसलिए जब मैं

बराबर खामोश बना रहा, जो मेरे लिए असभ्य आचरण था, तो उन्होंने बात को दूसरी ओर मोड़ा कि जनता के प्रतिनिधि को कैसे रहना चाहिए। उन्होंने दूसरी बार पूछा कि मुझे भी क्या कुछ कहना है? मैं फिर भी कुछ न बोला। उन्होंने पूछा कि क्या मैं चाहता हूँ कि वे चुप हो जाएँ। मैंने उन्हें बोलते रहने को कहा। फिर उन्होंने पूछा कि क्या मैं सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन में बहुत अंतर समझता हूँ और चाहता हूँ कि केवल मेरे सार्वजनिक जीवन से ही सम्बन्ध रखें। इस पर मैंने कहा कि मैं ऐसा कोई अंतर नहीं मानता और साथ ही जिन बातों में दूसरों के हस्तक्षेप को बुरा भी समझूँगा, वह उनके साथ लागू नहीं होता। उन्हें आकाश के नीचे की हर चीजों पर मुझसे कुछ कहने की पूरी आजादी है।

अतः जब उन्होंने फिर बातें शुरू कीं और लगभग 55 मिनट तक बोलते रहे तो मुझे उन्हें स्पष्ट रूप से कहना ही पड़ा, “आज मैं आपको कोई उत्तर न दे सकूँगा, पर जल्दी ही दूँगा।” मैं नहीं कह सकता कि गांधीजी के सभी तर्क ठीक थे या नहीं। आज भी, मैं नहीं जानता कि जनता के प्रतिनिधि बनने का यह आधार कहाँ तक ठीक है।

हो भी सकता है और नहीं भी। लेकिन एक बार इस प्रकार जोरों से एक बात के बारे में कहे जाने के बाद, दो महीने बाद, मैंने जाकर गांधीजी से बताया कि मैंने सिगरेट छोड़ दी है। मैंने तब सिगरेट छोड़ दी थी और गांधीजी की हत्या के दिन तक छोड़े रहा। ऐसे किसी व्यक्ति के बारे में और उसकी विचार-पद्धति के बारे में बताना सचमुच कितना दुःखपूर्ण है। सच यह है कि उनकी हत्या के दूसरे सवरे मुझे लगा कि इतनी जल्दी चले जाकर, उन्होंने मेरे और देशवासियों के साथ धोखा किया है। फिर अब ऐसे व्यक्ति के सम्मान में सिगरेट न पीने के क्या मायने हैं? ऐसे ही कुछ बेढंगे विचार मेरे मन में आए। एक महान व्यक्ति किसी से कोई काम कराना चाहे, उसके लिए तर्क भी दे, चाहे दूसरा उससे सहमत न भी हो तो भी उस व्यक्ति के प्रभाव और प्रेम के कारण एक तरह का आत्म-अनुशासन शुरू होता है। इसका भी कुछ-न-कुछ सम्बन्ध मानवता के पुनर्निर्माण में अवश्य रहता है।

थोड़ी लज्जा के साथ, मैं यह स्वीकार करूंगा कि आज की दुनिया के हम मर्द व औरत केवल अच्छे विचारों के कारण ही अच्छे काम नहीं करते। अक्सर ऐसा हम किसी प्रभाव के कारण करते हैं, किसी प्रेम और किसी प्रकार की नकल के कारण भी। उस समय मैंने यह नहीं माना था कि गरीब देश की जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए सिगरेट छोड़ना आवश्यक है। लेकिन यदि गांधीजी अधिक दिनों जीवित रहते तो मैंने निश्चय ही उनके प्रभाव के कारण पूरी तरह और सदा के लिए सिगरेट छोड़ दी होती।

गांधीजी की मौत का एक अच्छा या बुरा नतीजा जो मुझ पर पड़ा, वह यह था कि मैंने अपने को पूरी तरह आजाद समझा कि मैं जो जी में आए कर सकता हूँ। जब वे जिंदा थे, तो हर समय एक इस प्रकार का विचार मेरे मन में बसा रहता था कि कोई अंकुश प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है। लेकिन किसी को बहुत ज्यादा भद्दी बातें नहीं करनी चाहिए। यही भावना थी। ऐसा नहीं कि मैं गांधीजी से डरता था। ऐसी कोई बात न थी। अक्सर, जब मैं उनसे बातें करता, सख्त-से-सख्त शब्दों का प्रयोग करता और जैसे सहज ही मेरे मुँह से तीखी व तेज बातें निकल आती थीं। तब तनिक भी डर न लगता था। इसका केवल एक कारण था कि मैं अधिक बुरा न बनूँ, जब तक वे जीवित थे।¹

गांधीजी की उपस्थिति में मेरे मुँह से जो तीखी भाषा निकलती थी, उसके सम्बन्ध में मैं एक अजीब घटना का जिक्र करूंगा। गुप्तचर विभाग की पुलिस ने कहानी गढ़ी कि मैं आँग-साँग की तरह भारत की सरकार को उलटना चाहता हूँ। आँग-साँग बर्मी प्रधानमंत्री था, जिसकी हत्या की गई थी। उसके साथ मंत्रिमंडल के अधिकांश साथियों की भी। नागपुर की गुप्तचर पुलिस ने रिपोर्ट दी कि मैंने भूमिगत आंदोलन द्वारा भारतीय सरकार और उसके मंत्रियों की आँग-साँग पद्धति से हत्या करने की बात कही है। और एक दिन जब मैं गांधीजी के कमरे में घुस रहा था, तब सरदार पटेल बाहर आ रहे थे और रुककर उन्होंने पूछा कि मैं कब उन्हें समाप्त करने वाला हूँ। गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट से अनभिज्ञ तथा इस बात की सतर्कता बरते बिना कि गृहमंत्री मुझसे बात कर रहे हैं, मैंने मजाक में ही कहा कि अभी हमारी शक्ति ऐसी नहीं हो पाई है और जो शक्ति है उसका उपयोग

इसी बात में कर रहे हैं कि उनसे भी बुरे लोग उन्हें हटाकर उनका स्थान न ले लें। और संयोग की बात, कि यही वार्तालाप एक-दो दिनों बाद फिर आपस में जरा तेज स्वरों में दुहराया गया, जिसे सुनकर गांधीजी ने मुझे गुप्तचर पुलिस की रिपोर्ट के बारे में बतलाया। गांधीजी ने पूछा कि क्या मेरे ऐसे विचार हैं, इन पर मैंने कहा कि यह नितांत झूठी और बेहूदी बात है, शरारतपूर्ण भी। यहाँ तक कि ब्रिटिश राज के जमाने में भी मैंने यातायात रोकने, तोड़फोड़ और सामानों के नष्ट कराने तथा लोगों की जान ली जाने में अन्तर रखा था। 1942-43 के दिनों में भी अब हम ब्रिटिशों से संघर्ष में गुंथे हुए थे, तब भी इस अन्तर को हमने निभाया कि हम कोई मालगाड़ी या हथियार ढोने वाली गाड़ी या शस्त्रागार उड़ा रहे हैं या सैनिकों को ले जाने वाली गाड़ी, चाहे वे ब्रिटिश सैनिक ही क्यों न रहे हों।

गांधीजी से यह कहने में मैंने जिस भाषा का प्रयोग किया था उसे कोई तीखी, तेज और फूहड़ कह सकता है, क्योंकि मैंने कहा था कि उनकी सरकार अयोग्य, प्रभावहीन, बेहूदी और तर्कहीन है। मैं सचमुच इस प्रकार से पूरी तरह ऊब गया था। गांधीजी हँसे और बोले कि हाँ ठीक है, लेकिन यह तो तुम्हारे विचार हैं। उन्होंने कहा कि मैं गृहमंत्री को एक पत्र लिखूँ कि मैं उनकी सरकार को उलटने नहीं जा रहा। इस पर मैंने कहा कि मैं कदापि ऐसा पत्र नहीं लिखूँगा, क्योंकि ऐसा करने को मैं अपमानजनक मानूँगा, मैं भला उन्हें पत्र क्यों लिखूँ? वह अपने घर रहते हैं और मैं अपने और अगर उन्हें ऐसी रिपोर्ट मिली है तो उसकी सच्चाई के बारे में उन्हें ही मुझसे पूछना चाहिए। तब गांधीजी ने जो सचमुच एक अद्भुत व्यक्ति थे और तत्काल ही रास्ता खोज लेते थे, बोले, “हाँ, मैं समझ सकता हूँ कि तुम्हें गृहमंत्री को लिखने की कोई जरूरत नहीं है, लेकिन तुम मुझे तो लिख सकते हो, लेकिन साथ ही मैं कांग्रेस सरकार को भी अयोग्य, भ्रष्ट और बेहूदी मानता हूँ और मैं इसे जनतांत्रिक ढंग से तत्काल हटाना चाहूँगा।” यह पत्र अभी भी गृह मंत्रालय की फाइलों में होगा, जो मेरी उचित दूरदर्शिता का नमूना है।

गांधीजी के सामने कितनी आजादी से बात कही जा सकती थी। कोई संकोच नहीं, किसी व्यक्ति का डर नहीं, पूरी आजादी। मैं ऐसा कोई व्यक्ति नहीं

जानता, जिसका इस विषय में भिन्न अनुभव हो। किसी और से बातें करने में मैं सतर्कतापूर्वक शिष्ट बना रहता था, परंतु गांधीजी से बातें करते समय मैं लापरवाह हो जाता था, क्योंकि वे मेरे भीतर जो कुछ रहता था, उसे उगलवा लेते थे, यहाँ तक कि तीखी और स्पष्ट भाषा भी। यही मेरी उपलब्धि थी, चाहे अच्छी या बुरी। मेरा ऐसा व्यवहार हर दशा में भयरहित होता, क्योंकि वे भारत के संतरी थे और हमारी हरकत पर नजर रखते थे। काश कि हर राष्ट्र में एक ऐसा ही संतरी होता, निश्चय ही उस योग्यता का नहीं, क्योंकि ऐसा पुरुष तो कई शताब्दियों में एक होता है, लेकिन एक ऐसा संतरी जिसे सभी आदर दें ताकि वह अपने लोगों के कामों में अंकुश बन सके।

एक बार गांधीजी ने मुझसे प्रश्न किया कि क्या मैं ईश्वर में विश्वास करता हूँ? निश्चय ही ऐसे प्रश्न के लिए बहुत देर हो चुकी थी, क्योंकि मैं गांधीजी को कई बरसों से जानता था और यह प्रश्न उन्होंने पहले कभी न किया था। कई प्रश्न जो मुझे उनसे पूछने चाहिए थे, नहीं पूछे, क्योंकि मूर्खों की तरह मैं समझता था कि वे सदा जीवित रहेंगे। ऐसा नहीं कि मैं कोई मूर्खतापूर्ण प्रश्न पूछता, क्योंकि निश्चय ही मैं ऐसी समस्याओं पर उनके पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं समझता था कि अपनी पहचान की किसी लड़की के कंधे पर हाथ रखें या नहीं। मैं ऐसा आदमी नहीं हूँ जो ऐसी समस्याएँ लेकर उनके पास जाता और उनकी राय माँगता। ऐसा करना यदि मैं उचित समझता तो अवश्य करता, या अपनी बाँह उसकी कमर में लपेटता या यदि उसका मन होता कि वह अपनी बाँह मेरी कमर में लपेटती, जैसा कि शायद कभी न होता, तो मैं कहता, “ठीक है, ठीक है।” इसके लिए प्यार या इच्छा आवश्यक है। एक क्षण को भी यह नहीं सोचना चाहिए कि ऐसे आचरण केवल प्यार या विषय-लालसा से ही होते हैं। यह केवल संग-साथ के लिए भी हो सकता है, जैसे मैं किसी पुरुष मित्र के कंधे पर हाथ रखूँ। क्या फर्क पड़ता है यदि दो पुरुष या दो औरतें या एक पुरुष और एक औरत एक-दूसरे के कंधों पर अपने हाथ रखें? खैर, उन्होंने पूछा, “क्या तुम ईश्वर में विश्वास करते हो?” मैंने कहा कि नहीं। तब गांधीजी ने कहा कि यह शंका की बात है कि कभी मैं अच्छा सत्याग्रही बन सकूँगा, यदि मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता। फिर तत्काल ही उन्होंने कहा कि लेकिन कौन जाने। हर एक का अपना ढंग होता है और शायद

मैं बिना ईश्वर के ही सत्याग्रह कर सकूँ। और उन्होंने वह प्रश्न टाल दिया और फिर कभी उसे न उठाया। यह छोटी पर निर्णायक स्वीकृति थी। कोई नहीं जानता। हर का अपना ढंग होता है। जहाँ तक मेरी बात थी, मैंने स्पष्ट कहा था कि नहीं, ईश्वर को नहीं मानता। यद्यपि मैं इतना बेताब नहीं हूँ कि अपने को ईश्वर को मानने वालों से श्रेष्ठ समझूँ। हर एक का अपना ढंग होता है। मैंने उन लोगों को देखा है जो ईश्वर में विश्वास करते हैं, साधारण लोग, जो मस्जिद या मन्दिर या गिरजा में जाकर शान्ति पाते हैं और मैं उन्हें ऐसा करने से कभी न रोकूँगा। क्योंकि ऐसा करने से उनके चेहरों पर जो चमक आती है, वह मैं किसी अन्य रूप में उन्हें कभी नहीं दे सकता। फिर मैं उनके रास्ते की रुकावट क्यों बनूँ?

मैं चाहे भगवान को न मानूँ लेकिन ऐसी कई कलात्मक कल्पनाएँ हैं जिन्होंने लुभाया है, क्रॉस पर ईसा की कल्पना ने मुझे सदा ही लुभाया है, उसी तरह जैसे उसने लाखों-करोड़ों क्रिस्तानों को लुभाया है या किसी को भी लुभा सकता है। यदि हेमलेट और जूलियट लुभा सकते हैं तो मुझे ऐसा कोई कारण नहीं दिखता कि हुसैन और ईसा न लुभावें। इसी तरह राम, कृष्ण और शिव की कल्पना ने भी मुझे लुभाया है। शिव तो सब से अधिक। कल ही किसी ने उनकी तमाम लीलाओं के बारे में पूछा, जिनका हर काम अपने-आप औचित्यपूर्ण है। उनके किसी काम को दूसरे का समर्थन नहीं चाहिए। ऐसी तमाम कलापूर्ण कल्पनाएँ हैं, जो आखिरकार असर करती ही हैं चाहे कोई ईश्वर को माने या न माने।

मैं गांधीजी के सम्बन्ध में उस समय की भी चर्चा करूँगा, जब हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय कलकत्ते में उन्होंने उपवास किया था। हिन्दुस्तान स्वतंत्र घोषित हो चुका था और गद्दी पर कांग्रेस सरकार विराज चुकी थी। एक बात साफ है कि गांधीजी का घर बंगाल सरकार के गुप्तचर विभाग से बड़ा सूचना केन्द्र था। एक बार बंगाल के मुख्यमंत्री ने बड़े चाव से गांधीजी को दंगे से सम्बन्धित एक घटना का वर्णन करना शुरू किया, पर उस घटना के बारे में हम लोग चार-सौ घंटे पहले ही जान चुके थे। मुझे यह बड़ी घुटन वाली बात लगी और मैं अपने को रोक न सका। ऐसे अवसरों पर गांधीजी के चेहरे पर एक अनोखी मुस्कान खिल पड़ती थी। लेकिन परिस्थिति एकाएक बड़ी गम्भीर हो

गई। मुझे बताया गया। गांधीजी शायद जल्दी ही अपना उपवास भंग कर देंगे, यदि बिना लाइसेंस के हथियार जिनका दंगों में प्रयोग हो रहा है, उन्हें सौंप दिए जाएँ। मुझे मालूम था कि ऐसे कुछ हथियार सन् 42 के विद्रोह के जमाने के वहाँ थे। और आज भी उन्हीं का प्रयोग किया जा रहा था। इन्हें प्रयोग करने वाले राष्ट्रीय संघर्ष से हटकर, धार्मिक संघ तक आए गए थे और उनमें से शायद ऐसे कुछ निकल आवें, ऐसी सम्भावना थी कि अभी भी मेरी बात सुनते और खास कर ऐसे आपातकाल में। ये लोग अपने-अपने ढंग से बहादुर ही थे।

ऐसे कुछ पहले के राजनीतिक कार्यकर्ताओं को मैं अभी भी जानता था, अतः जब हथियार सौंपने की बात उठी तो मैंने एक क्षण भी खोए बिना तत्काल ही अपने प्रभाव का उपयोग करने का निश्चय कर डाला। पहले जो लोग मिले उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वे हथियार अब आसानी से खोजे नहीं मिलेंगे। सन् 42 के युग में जिन लोगों का मैंने नेतृत्व किया था, उनमें एक था जगमोहन बोस, जिसे जगू कहा करता था। मैं उससे मिला, उसने मझे तत्काल पहचान लिया। उसने हथियार जुटाने और सौंपने की बात की। इस काम के लिए उसने एक अन्य व्यक्ति से बात करने को कहा। जगू बड़ा स्पष्ट भाषी है। उसने पूछा कि हथियार सौंपना क्या बिल्कुल आवश्यक है या गांधीजी की जिंदगी का इससे सीधा सम्बन्ध है। मैंने उसे विश्वास दिलाया कि हाँ। बस उसने अपने मन में निश्चय कर लिया।

जगू ने बताया कि इस काम को पूरा करने के लिए वह अँधेरा होने के बाद मुझे एक दोस्त के यहाँ ले जाएगा, जिससे इस सम्बन्ध में मुझे बातें करनी होंगी। मुझे वह एक मोटर में बैठकर खूब चक्कर लगाकर एक अनजान जगह ले गया। फिर लिफ्ट से एक इमारत की ऊपरी मंजिल पर। मैं समझ गया कि किसी ऐसे व्यक्ति से मिलना है जो काम का है। थोड़ी देर बाद एक व्यक्ति आया, ऐसा विचित्र व्यक्ति फिर जीवन में मैंने न देखा। वह चीनी कथाओं का एक चरित्र जैसा था। उसे देखकर अजीब तरह से रोंगटे जैसे खड़े होते। उस व्यक्ति ने गोली दागने की तरह मुझसे प्रश्न किया—मैं यहाँ क्यों आया हूँ। मैंने कहा, मैं भी जानना चाहता हूँ कि मैं यहाँ क्यों लाया गया हूँ? फिर उसने अपने शब्दों से भ्रामक राष्ट्रीयता पर आघात किया और हम पर दोष लगाया कि हम लोग मुसलमानों की मदद करते

हैं, हिन्दुओं को नष्ट करते हैं। उसने पूछा कि यदि हथियार दे दिए जाएँ तो हिन्दुओं को जब फिर जरूरत पड़ेगी तब वह कहाँ से लाएँगे। मैंने कहा कि किसी का हाथ और चलाने वाले का दिल ठीक रहे तो जब चाहें हथियार जुट सकते हैं या बिना हथियार के भी तो लड़ा जा सकता है। उस आदमी के ओठों पर हल्की-सी मुस्कान खेली। जगू मेरी बगल में था। उसी रात हमने एक स्टेनगन, कुछ हथगोले और दूसरे विस्फोटक हथियार जुटाए।

काम पूरा हो जाने पर मैं पीछे हट जाता हूँ। मेरे दोस्त ने ले जाकर हथियार गांधीजी को सौंपे, मैं बाहर ही रुका रहा। मुझे लग रहा था कि आधी रात के आस-पास समय होने के कारण गांधीजी सो गए होंगे। हमने संतोष की साँस ली और मोटर लेकर वापस चले। हमें लगभग आठ मील जाना था। रास्ते में मुझे याद आया कि वे हथगोले तो किसी भी क्षण फूट सकते हैं। फिर हम वापस लौटे और मेरा दोस्त फिर गांधीजी के कमरे में घुसा और उसने सभी हथगोले पानी भरी बाल्टी में रखे।

दिल्ली में हिन्दू-मुस्लिम एका का काम बड़ा कठिन था। एक दिन मैंने गांधीजी से कहा कि एका की बात करने के लिए मैं दो-तीन सौ चुने हुए हिन्दू-मुसलमान और सिक्खों को बुलाऊँगा। आप भी सभा में रहें। गांधीजी ने कहा—‘ठीक है।’

मैंने तीनों सम्प्रदायों के लोगों से बातें कीं और सभा का कार्यक्रम निश्चित करके दिल्ली के कांग्रेस दफ्तर के मंत्री से जाबते से सभा की सूचना प्रसारित करने का आग्रह किया। उसने नहीं तो नहीं की टालटूल जरूर की। मैं समझ गया कि कांग्रेस वाले ऐसी सभा में दिलचस्पी न लेंगे। तब गांधीजी से जाकर मैंने कहा कि यदि वे राजी हों तो सोशलिस्ट पार्टी की ओर से सभा बुलाई जा सकती है। गांधीजी ने सोचकर कहा कि कोई हर्ज नहीं। कोई भी अच्छी चीज होती है तो इसे कौन करता है, उससे कोई बहस नहीं।

लेकिन ठीक सभा के दिन ही दिल्ली में कांग्रेस कार्यसमिति की भी बैठक रख दी गई। उसी दिन सवेरे जब मैंने अखबार देखा तो पाया कि सभा की सूचना एक आम

सभा की सूचना के रूप में छपी गई है। आखिर ऐसा क्यों किया गया ? सभा तो चुने हुए लोगों की थी। मेरी परेशानी देखकर गांधीजी ने कहा कि तुम परेशान क्यों होते हो ? अच्छे कामों में रुकावटें पैदा करने वाले सदा सतर्क रहते हैं।

सभा के समय खूब भीड़ आ गई। आखिर मुझे बताना पड़ा कि सभा केवल कुछ लोगों की है। तब दर्शक और श्रोता बनकर आए हुए लोग सहर्ष चले गए और निमंत्रित लोग ही रह गए। सभा चली तो तीन घंटे पर सभा में कम अड़चनें नहीं आईं। गांधीजी की हर सभा में ऑल इंडिया रेडियो का लाउड स्पीकर हमेशा रहता था, जो कभी भी खराब न होता था, उस दिन वह भी बिगड़ गया था।

हमारी सभा चल ही रही थी कि गांधीजी की कांग्रेस कार्यसमिति के लिए बुलाहट हुई। गांधीजी ने कहला दिया कि मेरे बिना ही बैठक चलवा दो। फिर एक-एक कर कार्यकारिणी के कई सदस्य उन्हें बुलाने आए, पर सभी को निराश जाना पड़ा। आखिर में नेहरू और पटेल आए। लेकिन गांधीजी सभा के बीच न हिले। गांधीजी इस सभा से बहुत खुश थे, क्योंकि सभा का काम उनके लिए सबसे महत्त्व का था।

कांग्रेस कार्यसमिति में, गांधीजी के शामिल न होने के, कांग्रेस श्रेष्ठियों की बड़ी नाराजी रही। यह स्वाभाविक ही था।

एक दिन अखबारों में एक खबर छपी कि एक मुस्लिम इलाके में लगभग 300 बंदूकें पाई गईं। वास्तविकता यह थी कि एक इलाके में एक मुसलमान के यहाँ एक बंदूक बरामद हुई थी जिसे 303 कहा जाता था। बंदूक के नाम के अंक को खबर में तादाद बना दिया गया था। मैंने थोड़े रोष में गांधीजी से कहा कि आखिर ऐसी गलत खबरें छापकर हम जैसे लोगों के कामों को क्यों बेकार कर दिया जाता है। मेरे रोष को प्रभावहीन करने को गांधीजी ने हँसकर कहा कि तेरा बाप तो मेरा अंधभक्त था, पर तुम कैसे इतने झगड़ालू हो ? मैंने अपनी बात जारी रखी। कहा लेकिन बापू, सूचना और प्रसारण मंत्रालय द्वारा जारी की गई रपट ने हफ्तों लगातार काम को चौपट कर दिया। गांधीजी ने कहा कि क्या तुम इस मंत्रालय को नहीं चला सकते ? तुम तो जिम्मेदारी से भागते हो।

मैंने कहा कि आप जब इस नतीजे पर पहुँच जाएँ कि देश में सबसे अच्छे लोग कांग्रेस नेता ही नहीं हैं तभी आप मुझे कुछ जिम्मेदारी दें। गांधीजी ने उसी मुद्रा में कहा कि क्या मैं यह घोषणा करूँ कि तुम नेहरू से ज्यादा अच्छे हो? मैंने भी कहा कि ऐसी घोषणा आप करें तो कोई हर्ज की बात न होगी। हाँ, इसके विरोध में आपके पास यदि कोई कारण हो तो कहें। इस बात के करीब छत्तीस घंटे बाद गांधीजी ने मुझे रात को अपने सोने के कमरे में बुलाकर पूछा— “क्या मैंने ऐसा कभी कहा है कि वे लोग सबसे अच्छे हैं?” मैंने कहा कि हाँ आपने ऐसा एक नहीं हजार दफे कहा है। तब गांधीजी ने कहा कि मैंने कहा था कि “इनसे ज्यादा अच्छे नहीं” दोनों में फर्क है।

26 जनवरी को गांधीजी ने कहा कि तुमसे आवश्यक बातें करनी हैं। कल-परसों करूंगा। 28 जनवरी को फिर कहा कि समय नहीं बचता और तुमसे बातें विस्तार से करनी हैं। फिर 29 को कहा कि कल तुमसे जरूर ही बातें करूंगा। आखिर मुझे तुम्हारी पार्टी और कांग्रेस के बारे में कुछ निश्चय तो करना चाहिए। कल शाम जरूर आना। पेट भर कर बातें होंगी। गांधीजी समझते थे कि हमारी पार्टी और कांग्रेस की पटरी मौजूदा रवैया में नहीं बैठ सकती। अतः इस सम्बन्ध में निर्णय लेने का गांधी का विचार बड़ा ही सामयिक और अनुकूल था।

30 की शाम को मैं एक टैक्सी लेकर गांधीजी से मिलने ‘बिड़ला भवन’ की ओर चला। लेकिन रास्ते में ही गांधीजी की घृणित व नृशंस हत्या की खबर मिली।

बिड़ला भवन पहुँचा तो वहाँ बहुत बड़ी भीड़ थी। केवल गांधीजी न थे, कमरे में उनका मृत शरीर पड़ा था।

उस दिन लगा कि असली अर्थ में मैं पहली बार अनाथ हुआ।

देश का संतरी सामने मरा पड़ा था और देश के राजा बने लोग आँसू बहा रहे थे।

गांधीजी के विश्वस्त चेलों—नेहरू व पटेल, के गद्दी पर रहते भी गांधीजी की हत्या हो गई।

मुझे गांधीजी की 'ईश्वर पर विश्वास' वाली कहावत याद आ गई। मैं सोच रहा था कि ईश्वर में अटूट श्रद्धा रखने वाला, जिसने जिंदगी-भर अहिंसा का प्रचार किया, आज उसका हिंसा द्वारा हनन हुआ। यह कितनी विपरीत घटना थी!

गांधीजी के मृत शरीर को देखकर मैं बुदबुदा पड़ा था 'क्यों आपने मेरे साथ और देशवासियों के साथ ऐसे दगाबाजी की? क्यों आप इतनी जल्दी चले गए?' पर मुझे इसका उत्तर भला कौन देता!

टिप्पणियाँ

1. मैं यहाँ बाद की बात जोड़ूंगा। गांधीजी को गए आज बारह वर्ष हो रहे हैं। और पाँच वर्ष से ऊपर हुए कि मैंने सिगरेट नहीं पी। इसलिए इस आदत से फिर शुरू होने का खतरा बहुत कम है। मैं यह भी नहीं कह सकता कि जनता के प्रतिनिधि-रूप की मेरे भीतर क्या धारणा है। एक बार गांधीजी ने कहा था कि मैं बहादुर हूँ, लेकिन और भी बहुत से बहादुर हो सकते हैं, फिर हँसकर कहा था कि शेर भी तो बहादुर है। उन्होंने कहा कि मुझसे भी अधिक विद्वान लोग हैं, वकील भी तो विद्वान होता है। लेकिन मुझमें 'शील' है, चरित्र की धारावाहिकता, और यह गुण किसी दूसरे में नहीं है। गांधीजी कभी-कभी लोगों की खूबियों को पहचानने में भूलें कर जाते थे। मुझे लगता है कि मेरे प्रति उनके स्नेह और सूचनाओं की कमी के कारण उन्होंने मेरे बारे में गलत धारणा बना ली हो, लेकिन यदि उनका कहना सच है तो मैं बहुत प्रसन्न हूँ। चाहे बहादुरी न हो, चाहे योग्यता और विद्याज्ञान भी न हो, पर चरित्र की धारावाहिकता एक महान मानवीय गुण है।

—1960, अक्तूबर।

(‘लोहिया के विचार’ पुस्तक से साभार)

***isd* इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फलैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017